एक नये विश्व की ओर

(पूंजीवादी और समाजवादी विचारतंत्रों की समीक्षा और तीसरे विकल्प की खोज)

विनोद शाही

रूस में व्यापक सामाजिक-राजनैतिक तब्दीली की छाया में पूर्वी यूरोप के कुछ देशों की कठपुतली सरकारों का पतन हुआ। रूस ने साम्यवाद की राह से पलटकर जिस तरह लचीली अर्थव्यवस्था को गले लगाया, उससे एकबारगी तो यह शंका हुई कि क्या वहां सचमुच साम्यवाद आया भी था या नहीं। यह शंका उठकर रूस में आई कि 1917 की क्रांति के सकारात्मक पहलुओं तक को दरकिनार करना उचित नहीं। ज्यादा से ज्यादा यही कहना ठीक होगा कि रूस ने जो राह पकड़ी, उसे लगातार गहराने के लिए एक विकसित चेतना का जन्म नहीं हो पाया। व्यक्ति चेतना और समाज तंत्र के आपसी संबंध काफी पेचीदा हैं, खास तौर पर उस संदर्भ में, जहां हमारा ध्यान इन दोनों के समान विकास पर केंद्रित हो। यहां यह कह देना गैरवाजिब नहीं होगा कि व्यक्ति स्वातंत्र्य शब्द की अपनी बेईमानियां हैं, तो सामाजिक तंत्र द्वारा व्यक्ति के अनुकूलन-समायोजन के प्रयासों के अपने खतरे हैं। रूस और पूर्वी यूरोपीय देशों की तब्दीलियों ने अभी फिर आदमी के विद्रोह कर पाने और अपनी गरिमा को महफूज रखने के लिए पूरे सामाजिक तंत्र को ही उलट पलट देने की क्षमता को रेखांकित किया है, परंतु उन देशों की बाबत क्या कहा जाए, जहां या तो बात ही मानवाधिकारों की रक्षा की की जाती हो और या फिर लगातार सांस्कृतिक क्रांतियां करते जाने का प्रण दोहराया जाता हो और फिर भी हर जन-उभार को दबाने के लिए राह खोज ली जाती हो। चीन के छात्र आंदोलन

और अमरीका में अश्वेत लोगों द्वारा की गई गुस्से की हिंसात्मक अभिव्यक्ति—इन दोनों को एक ही जगह नहीं रखा जा सकता, परंतु ये दोनों घटनाएं अपने अपने तरीके से सामाजिक तंत्रों की विश्वसनीयता और लोकमुखी चेहरे पर कुछ प्रश्न जरूर खड़े करती हैं। व्यक्ति स्वातंत्र्य की दुहाई का छलावा और दोहरापन ही हमारे सामने उभर कर नहीं आता, उसकी दूसरे देशों का शोषण करने के हथियार बनने की क्षमता का पता भी चलता है। चीन की स्थिति अमरीका की तरह इतनी नंगी और बेहूदा नहीं है। वहां दूसरे सवाल की अहमियत सामने आती है कि अगर लगातार की जाती सांस्कृतिक क्रांतियों के जरिए समाज एक विकसित समाजवादी चेतना का निर्माण करने से चूक जाता है, तो प्रतिक्रांति निश्चित है। जहां तक भारत की स्थितियों का संबंध है, उसकी अपनी पेचीदगियां हैं। एक ढुलमुल समाजतंत्र लगातार व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद के दोहरेपन का ही प्रदर्शन नहीं कर रहा, योजनाबद्ध विकास के नाम पर जनसंपत्ति के सरकारीकरण और लोकदमन के बेरहमी से भी बाज नहीं आता। यहां की व्यापक अमानवीयता एक महान मानवीय रूपाकार वाले सांस्कृतिक अतीत की छाया में महफूज बनी रहती है। परंतु ठीक इन्हीं कारणों से ही यहां एक और बड़ी सांस्कृतिक क्रांति की संभावना भी जन्म लेती दिखाई देती है। इसके स्वरूप को ठीक से जानने-समझने से पहले उचित होगा कि पूरे विश्व के संदर्भ में घटी महत्वपूर्ण घटनाओं की पृष्ठभूमि में पैदा हुए दार्शनिक सवालों को गहराई से समझने की कोशिश की जाए।

सामाजिक प्रक्रियाएं व्यक्ति चेतना पर न तो आधारित होती है और न उसका अनुसरण करती है। व्यक्ति चेतना सामाजिक प्रक्रियाओं को नियंत्रित नहीं करती, जबकि सामाजिक प्रक्रियाएं व्यक्ति चेतना को प्रभावित ही नहीं करतीं, उसका सारतत्व भी वहीं होती है। यह सिद्धांत हमें यथार्थ को समझने में बहुत दूर तक सहायक होता है। परंतु इस सिद्धांत की यांत्रिक समझ हमें कितनी दूर तक भटका सकती है, यह हमारे सामने अब जाकर उद्घाटित होना शुरू हुआ है। यह सिद्धांत सामाजिक प्रक्रियाओं से उद्भुत समाजतंत्र को किसी रूप में भी यह इजाजत नहीं देता कि वह व्यक्ति चेतना को अपने अनुरूप नियंत्रित संचालित करने का लाइसेंस लेकर अपने विरोध में जाते दिखते तत्वों का उन्मूलन करना शुरू कर दे। समाजतंत्र जब सामाजिक प्रक्रियाओं का एकमात्र निष्कर्ष बनकर सामने आता है, तो वह पूरी तरह अमानवीय एवं जनविरोधी चरित्र वाला हो जाता है। समाजवादी और साम्यवादी समाजतंत्र निश्चित सामाजिक प्रक्रियाओं का परिणाम है। इन प्रक्रियाओं की समग्रतः वैज्ञानिक व्याख्या एक आदर्श स्थिति मात्र है। व्यवहार में होता यह है कि तंत्र के स्वरूप का निर्धारण ज्ञात व संभव व्याख्याओं के आधार पर कर लिया जाता है। सामाजिक प्रक्रियाएं समग्रतः व्याख्या के दायरे में कभी नहीं आ पाएंगी, परंतु उनकी लगातार अधिकाधिक व्याख्या करते हुए लगातार उनके मुताबिक बदलना जरूरी होता है। समाजवाद के नाम से जो तंत्र सामने आया, उसे मूलतः नहीं, स्वरूपतः अवश्य लगातार बदलने के लिए तैयार होना चाहिए, अन्यथा उसे पूरी तरह वैज्ञानिक नियमों की कसौटी पर खरा नहीं कहा जा सकता। यह बात सभी तंत्रों के लिए कसौटी है। परंतु व्यवहार में होता यह है कि स्थापित हो जाने पर हर तंत्र में निहित सुविधाओं का एक दुष्चक्र निर्मित होने लगता है, जिसे बेधने के लिए लगातार क्रांति करते जाने की जरूरत होती है। जहां क्रांति की प्रक्रिया रुकती है, लगातार गहराने से चूकती है, वहां प्रतिक्रांति उसे उखाड़ फेंकती है। क्रांति हो अथवा प्रतिक्रांति, दोनों का उत्स होता है—व्यक्ति चेतना में। व्यक्ति चेतना सामाजिक प्रक्रियाओं के सारतत्व को वहन करती है। व्यक्ति चेतना के भीतर समग्र सामाजिक प्रक्रियाएं सारतः संरचित रहती हैं। यही वजह है कि जिस सीमा तक सामाजिक प्रक्रियाओं में एक सीमा तक अज्ञात व्याख्येय मौजूद रहता है, उसी सीमा तक खुद उसमें भी अचेतन की भूमिका बनी रहती है। व्यक्ति अचेतन का एक पक्ष जैविक होता है जो लगातार सामाजिकीकृत रूपों में प्रकट किए जाने की प्रक्रिया से गुजरता है। कई दफा वह छद्म सामाजिक जरूरतों के रूप में भी सामने आता है और अनेक तनावों को जन्म देता है। वैसे व्यक्ति की जैविक संघटना भी अतीत की व्यापक सामाजिक प्रक्रियाओं से संबद्ध होकर बदलती समायोजित होती वर्तमान रूप को प्राप्त होती है। व्यक्ति अचेतन में यह सब भी सारतः मौजूद रहता है। सो, वर्तमान में मौजूद समाजतंत्र किसी भी रूप में व्यक्ति चेतना को सारतः रिप्लेस करने में समर्थ नहीं होता। यद्यपि सामाजिक प्रक्रियाओं की जिस सीमा तक अधिकाधिक वैज्ञानिक व्याख्याएं संभव होती चली जाती है, उसी सीमा तक

व्यक्ति चेतना भी अपने आप को छद्म रूपों से मुक्त करती हुई यथार्थ के अनुरूप नई से नई सामाजिक क्रांतियां करते जाने को अग्रसर होती जाती है, क्योंकि उसकी अपनी मुक्ति का मार्ग भी वही होता है। यदि इन व्याख्याओं को ठीक से समझा जा सके तो संभवतः यह कह पाना भी मुमकिन हो सकेगा कि जहां एक ओर यह सही है कि व्यक्ति चेतना में सामाजिक प्रक्रियाएं सारतः संघटित होती हैं, वहां यह भी सही है कि समाजतंत्रों का लक्ष्य भी मूलतः और अंततः व्यक्ति चेतना की मुक्ति की ओर अग्रसर व उसी के लिए समर्पित होता है। एक बेहतर समाज आखिरकार व्यक्ति के लिए ही हो सकता है, यदि व्यक्ति सारतः सामाजिक यथार्थ के लिए होता है। समाजतंत्र बीच की बात है, मगर बेहद उपयोगी और अपरिहार्य।

व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यक्ति चेतना का नियंत्रण-समानुकूलन ये दोनों वर्तमान समाजतंत्र की छद्म जरूरतें है। तंत्र के पास अपने इतिहासगत संस्कार होते है जो कई बार नकारात्मक भूमिका अदा करते है। समाज और व्यक्ति दोनों ने कई बार खुद को एक दूसरे के विरोध में पाया है। परंतु जब तक यह समझ नहीं आता कि इस विरोध का कारण अवैज्ञानिक जड़ता या यथार्थ की सही व्याख्या का अभावमात्र है, तब तक तंत्र अपने व्यक्ति विरोधी संस्कारजात व्यवहार को पूरी तरह छोड़ नहीं पाएगा। दूसरी ओर व्यक्ति-स्वातंत्र्य व्यक्ति-चेतना की अवैज्ञानिक व्याख्याओं की उपज है, जो इस चेतना को अतिमानवीय और निरपेक्ष सत्ता प्रदान करती है। एक तरह से यह अप्रासंगिक होते जा रहे आदर्शवाद का आधुनिक संस्करण मात्र है।

तंत्र जब व्यक्ति की सामाजिक मुक्ति के लिए कार्यशील होता है, उसे व्यक्ति की ओर से व्यापक समर्पण मिलता है। तंत्र जब खुद अपने स्थायित्व के लिए व्यक्ति से समर्पण की उम्मीद करने लगता है, उसे व्यक्ति के विरोध का सामना करना पड़ता है। व्यक्ति अपनी मुक्ति, मूलतः सामाजिक मुक्ति के लिए कार्य करता हुआ तंत्र को स्थायित्व प्रदान करता है, अन्यथा नहीं। एक दूसरे से जुड़ी इन दोहरी प्रक्रियाओं में एक और पेचीदगी भी होती है। व्यक्ति की मुक्ति के नाम पर समर्थ वर्ग द्वारा शोषण के छल का व्यवहार करना। यह वर्ग तंत्र पर काबिज होकर उल्टे सामान्य व्यक्ति की मुक्ति के द्वार ही अवरुद्ध कर देता है। तंत्र को लगातार ऐसे वर्ग का बनने से रोकना ही कई दफा तंत्र के विकास का एकमात्र आधार हो जाया करता है। पूंजीवादी समाज में ही नहीं, समाजवाद की ओर प्रयाण कर रहे समाजों में भी इस वर्ग के छल से लगातार लोहा लेने की जरूरत रहती है। आधुनिक समाजों में ब्यूरोक्रेसी, टेक्नोक्रेसी जैसे नामों के तहत ऐसे वर्ग पांव जमाते जमाते अक्सर लोकविरोधी चरित्र अख्तियार करते दिखाई देते है। ऐसे समयों में जन उभारों की विशिष्ट सामाजिक भूमिका सामने आती है। हाल में हुए विश्व स्तर पर अनेक सत्ता परिवर्तनों के पीछे ऐसी ही प्रक्रियाएं साफ तौर पर सक्रिय रही है। रूस और पूर्वी यूरोपीय समाजों में हाल में आए परिवर्तनों को देखते हुए कहा जा सकता है कि अब समाजतंत्रात्मक कट्टरताओं का युग बीत रहा है। हालांकि अभी हम व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी छल की जकड़बंदी को ढीला कर पाने में पर्याप्त समर्थ दिखाई नहीं दे रहे, तथापि अमरीकी समाज में अश्वेतों के जन-उभार की संभावनाओं से काफी आशाएं जगती है। चीन के समाज में जरूरी हो गया है कि अंदरूनी तौर पर वहां व्यापक सांस्कृतिक क्रांति के जरिए तंत्र के चरित्र को लगातार और मानवीय बनाते चले जाने का कार्य किया जाता रहे। रूस के महाशक्ति के रूप में अमरीका को शक्ति संतुलन में रखने का कार्य समाप्त हो गया है, अतः कहा जा रहा है कि अब दुनिया एकध्रुवीय हो गई है। एकध्रुवीयता का कोई अर्थ नहीं होता। एक ध्रुव के गिर जाने पर दूसरे ध्रुव के ध्रुव होने का अर्थ खो जाता है। अमरीका वर्तमान रूप में दुनिया को अपने इर्द-गिर्द घुमाने में ज्यादा देर कामयाब नहीं रह सकता। अभी चीन दूसरा ध्रुव होने की सामर्थ्य नहीं रखता। फिर ऐतिहासिक रूप में चीन की जैसी स्थिति रही है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि अमरीका की तरह वह विश्व के जन समाज का शोषण करने के लिए शायद ही उतनी दूर तक जाए। फिर सवाल है कि आज हम किस तरह की दुनिया में है? मेरा मानना यह है कि हमारे पीछे पूंजीवादी समाज खड़ा है और हमारे आगे एक नई दुनिया आकार लेने को तत्पर है। एक अर्से से इसे हम समाजवादी समाज का नाम देने की कोशिश कर रहे है। बेशक ठीक ठीक हम इसके स्वरूप को अभी भी परिभाषित नहीं कर पा रहे हों, पर यह वैसा ही समाज होगा।

आज की स्थितियों में जहां तक भारत का प्रश्न है, मेरा मानना यह है कि हम एक जनक्रांति के मुहाने पर खड़े हैं, जिसका कोई विकल्प नहीं है। यह जनक्रांति मूलतः सांस्कृतिक होगी। इसकी वजह यहां के इतिहास और सामाजिक चेतना में मौजूद है। विचार के धरातल पर हम जबरदस्त अंतर्विरोधों के शिकार हो रहे हैं। हमें अपने सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में व्यक्ति चेतना और उसकी मुक्ति को फिर से नये अर्थ प्रदान करते हुए परिभाषित करने का काम करना होगा और साथ ही व्यक्ति को तंत्र की दमनात्मकता से निजात भी दिलवानी होगी। अब कोई बने बनाए फार्मूले हमारे पास नहीं रह गए हैं। एक गरीब देश को आयातित धारणाओं के आलोक में उच्च, मध्यम निम्न वर्गों जैसे यांत्रिक खानों में बांट देखने का औचित्य भी खत्म होता जा रहा है। क्रांति को उत्सुक लोगों की सूचियां बनाने और फिर संशोधित करते जाने की मूर्खताएं अब और हमें रास्ता दिखाने वाली नहीं रह गई हैं। ऐसे में सांस्कृतिक धरातल पर व्यापक कार्य करने का औचित्य और भी प्रकट हो जाता है। मध्यकालीन धारणाओं की जकड़बंदियों से बाहर आता मानवीय वैज्ञानिक सोच वाला हर एक आदमी आज हमारे काम का होता जा रहा है। अभी हमें इस दिशा में काम करते हुए भुला देना होगा, संकीर्ण वर्गबद्धताओं के मुताबिक आदमी के चरित्र का फैसला कर बैठने की हड़बड़ी को। व्यक्ति क्या है उसकी चेतना के क्या मायने हैं, उसकी मुक्ति कहां है—इन सवालों को मौजूद व प्रचलित सांस्कृतिक शब्दावली में प्रकट करते हुए जन-जन से संवाद का तरीका खोजना होगा और इस तरीके से एक नए आदमी के जन्म के लिए प्रयत्नशील होना होगा। ऐसे परिवर्तित चेतना वाले लोग की हमारी प्रस्तावित जनक्रांति के वाहक होंगे। एक छोटे से व्यवहारिक सुझाव के साथ अपनी बात समाप्त करना चाहूंगा। आज बड़ी दुहाई दी जा रही है, विश्व अर्थतंत्र का हिस्सा बनकर अपनी स्थिति को सुधारने की, और नामालूम कितने अपमानजनक समझौते तक यह कहकर किए जा रहे हैं कि अब इनका कोई विकल्प नहीं रह गया है। परंतु क्या हमारे ख्याल में यह बात भी आती है कि हम एक ऐसे भारत में रह रहे हैं, जहां लोग एक आह्वान मात्र से मोटरों कारों का सहारा लेना छोड़कर पैदल सड़कों पर निकलकर आ खड़े हो सकते हैं। हममें भी सामर्थ्य है चीन की तरह सिर्फ साइकिलों पर चढ़कर मुल्कों को आगे लिए चलने की। पेट्रोल की परजीविता से ही मुक्त हो जाएं, तो हमारी अर्थव्यवस्था अपने पांवों पर आप आ खड़ी होगी। पर ऐसा करने को कौन कहेगा। सत्ता जिनके हाथ में है, उनके स्वार्थ तो उस वर्ग के हाथों सधते हैं, जो अर्थतंत्र की परजीविता पर जिंदा है। मुक्ति उनसे पानी है और इस्तेमाल करना है अपने समाज की समृद्ध और सकारात्मक सांस्कृतिक चेतना का।
